

स्वयं चापल्यमाधत्ते स्वयं कुप्यति साधुषु। स्वयं पापं करोत्येव दुर्जनस्येति चेष्टितम् ॥११॥
 तदा ते मुनयः सर्वे शुक्लध्यानेन धीधनाः। अनुभूयोपसर्गं तं प्राप्ताः स्वर्गापवर्गकम् ॥१२॥
 विघ्नं करोतु दुष्टात्मा पापी दुर्गतिकारणम्। सन्तः सद्धर्मसेवाभिर्लभन्ते सौख्यमद्भुतम् ॥१३॥
 सन्तस्ते मुनिसत्तमाः शुचितराः सद्ध्यानशैलाश्रिताः। श्रीमत्सारजिनेन्द्रतत्त्वचतुरा जित्वोपसर्गं दृढम् ॥
 संप्राप्ताः स्वविशुद्धभावभरतः स्वर्गापवर्गं शुभं। देवेन्द्रादिसमर्चिताः शुभकराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥१४॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनमुनेराख्यानं समाप्तम्।

७५. शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानम्

स्वयंभुवं नमस्कृत्य जिनेन्द्रं केवलेक्षणम्। संबोधाय सतां वच्मि मनोदोषस्य लक्षणम् ॥१॥
 स्वयंभूरमणे ख्याते समुद्रे प्रान्तवर्तिनि। सहस्रयोजनैर्दीर्घो विस्तारे च तदद्भ्यः ॥२॥

अपने कृत का फल मिलता है तब वे यह समझ कर, कि मेरा इसने बुरा किया, दूसरे निर्दोष सत्पुरुषों पर क्रोध करते हैं और फिर उनसे बदला लेने के लिए उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देते हैं ॥९-११॥

जो हो, मंत्री ने अपनी दुष्टता में कोई कसर न की। मुनिसंघ पर उसने बड़ा ही भयंकर उपसर्ग किया। पर उन तत्त्वज्ञानी-वस्तु स्थिति को जानने वाले मुनियों ने इस कष्ट की कुछ परवाह न कर बड़ी सहन-शीलता के साथ सब कुछ सह लिया और अन्त में अपने-अपने भावों की पवित्रता के अनुसार उनमें से कितने ही मोक्ष गए और कितने ही स्वर्ग में ॥१२॥

दुष्ट पुरुष सत्पुरुषों को कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावे उससे खराबी उन्हीं की है उन्हें ही दुर्गति में दुःख भोगना पड़ेगा और सत्पुरुष तो ऐसे कष्ट के समय में भी अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहकर अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य पालन कर सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे। जैसा कि उक्त मुनिराजों ने किया ॥१३॥

वे मुनिराज आप लोगों को भी सुख दें, जिन्होंने ध्यानरूपी पर्वत का आश्रय ले बड़ा दुःसह उपसर्ग जीता, अपने कर्तव्य से सर्वश्रेष्ठ कहलाने का सम्मान लाभ किया और अन्त में अपने उच्च भावों से मोक्ष सुख प्राप्त कर देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों आदि द्वारा पूजा को प्राप्त हुए और संसार में सबसे पवित्र गिने जाने लगे ॥१४॥

७५. शालिसिक्थ मच्छ के भावों की कथा

केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक और स्वयंभू श्री आदिनाथ भगवान् को नमस्कार कर सत्पुरुषों को इस बात का ज्ञान हो कि केवल मन की भावना से ही मन में विचार करने मात्र से ही कितना दोष या कर्मबन्ध होता है, इसकी एक कथा लिखी जाती है ॥१॥

सबसे अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र में एक बड़ी भारी दीर्घकाय मच्छ है। वह लम्बाई में एक हजार योजन, चौड़ाई में पाँच सौ योजन और ऊँचाई में ढाई सौ योजन का है। (एक योजन चार या

सार्द्धद्वयशतोत्सेधो महामत्स्यः प्रवर्तते। तस्य कर्णे तथा शालिसिक्थमात्रो लघुः कुधीः ॥३॥
 शालिसिक्थमात्रमत्स्योस्ति तत्कर्णे मलभक्षकः। महामत्स्यस्य तस्यैव भुक्त्वा जन्तूननेकशः ॥४॥
 मुखच्छिद्रं प्रसार्योच्चैर्निद्रां षण्माससंश्रिताम्। कुर्वाणस्य तदा सोपि लघुमत्स्यो दुराशयः ॥५॥
 दृष्ट्वा मुखोरुदंष्ट्रान्तः संप्रविश्य प्रगच्छतः। मत्स्यकच्छपकादींश्च योजनादिप्रदीर्घकान् ॥६॥
 स्वचित्ते चिन्तयत्येवं दिनं प्रति सुपापधीः। मूर्खीयं स्वमुखायातां-स्त्यजत्येतांश्च जन्तुकान् ॥७॥
 शक्तिर्यदीदृशी मेऽस्ति तदैको न प्रगच्छति। हा कष्टं दुष्टचित्तस्य चेष्टितं पापकारणम् ॥८॥
 स मृत्वा चेतसः स्वस्य महापापोदयात्ततः। कालेन सप्तमं नरकं प्राप्तः स कष्टराशिदम् ॥९॥
 अहो पुण्यस्य पापस्य कारणं प्रायशो मनः। तस्मान्नित्यं सतां कार्यं चित्तं पूतं जिनश्रुतेः ॥१०॥
 शास्त्रं विना न जानाति प्राणी किञ्चिच्छुभाशुभम्। ततः सद्भिः सदा कार्यं सारजैनश्रुतिश्रुतम् ॥११॥
 श्रीमज्जैनवचः प्रदीपनिकरं मिथ्यातमोनाशकं देवेन्द्रादिसमस्तभव्यनिवहैर्भक्त्या समभ्यर्चितम्।
 भो भव्या भवभूरिदुःखदलनं स्वमोक्षमार्गप्रदं नित्यं चेतसि चिन्तयन्तु नितरां शान्त्यै भवन्तः श्रियै ॥१२॥
 इति कथाकोशे शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानं समाप्तम्।

दो हजार कोस का होता है) यहीं एक और शालिसिक्थ नाम का मच्छ इस बड़े मच्छ के कानों के पास रहता है। पर यह बहुत ही छोटा है और इस बड़े मच्छ के कानों का मैल खाया करता है। जब यह बड़ा मच्छ सैकड़ों छोटे-मोटे जल-जीवों को खाकर और मुँह फाड़े छह मास की गहरी नींद के खुराटे में मग्न हो जाता उस समय कोई एक-एक दो-दो योजन के लंबे-चौड़े कछुए, मछलियाँ, घड़ियाल, मगर आदि जल जन्तु, बड़े निर्भीक होकर इसके विकराल डाढ़ों वाले मुँह में घुसते और बाहर निकलते रहते हैं तब यह छोटा सिक्थ-मच्छ रोज-रोज सोचा करता है कि यह बड़ा मच्छ कितना मूर्ख है जो अपने मुख में आसानी से आए हुए जीवों को व्यर्थ ही जाने देता है! यदि कहीं मुझे वह सामर्थ्य प्राप्त हुई होती तो मैं कभी एक भी जीव को न जाने देता। बड़े दुःख की बात है कि पापी लोग अपने आप ही ऐसे बुरे भावों द्वारा महान् पाप का बन्धकर दुर्गतियों में जाते हैं और वहाँ अनेक कष्ट सहते हैं। सिक्थ-मच्छ की भी यह दशा हुई वह इस प्रकार बुरे भावों से तीव्र कर्मों का बन्ध कर सातवें नरक गया क्योंकि मन के भाव ही तो पुण्य या पाप के कारण होते हैं। इसलिए सत्पुरुषों को जैन शास्त्रों के अभ्यास या पढ़ने-पढ़ाने से मन को सदा पवित्र बनाये रखना चाहिए, जिससे उसमें बुरे विचारों का प्रवेश ही न हो पाये और शास्त्रों के अभ्यास के बिना अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए शास्त्राभ्यास पवित्रता का प्रधान कारण है ॥२-११॥

यही जिनवाणी मिथ्यात्वरूपी अंधेरे को नष्ट करने के लिए दीपक है, संसार के दुःखों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाली है, स्वर्ग-मोक्ष के सुख की कारण है और देव, विद्याधर आदि सभी महापुरुषों के आदर की पात्र है। सभी जिनवाणी की उपासना बड़ी भक्ति से करते हैं। आप लोग भी इस पवित्र जिनवाणी का शांति और सुख के लिए सदा अभ्यास मनन-चिन्तन करें ॥१२॥

७६. सुभौमचक्रवर्तिन आख्यानम्।

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रावर्क-समर्चितपदद्वयम्। नत्वा जिनं प्रवक्ष्येऽहं सुभौमेशस्य वृत्तकम् ॥१॥
 ईर्ष्यावति पुरे राजा कार्तवीर्यो गुणोज्ज्वलः। रेवती कामिनी तस्य तयोः पुत्रः सुभौमवाक् ॥२॥
 अष्टमश्चक्रवर्ती च तस्य पाकविधायकः। जातो विजयसेनाख्यो नाना भोजनयुक्तिवित् ॥३॥
 एकदा तेन भूपाय तस्मै सत्पायसाशनम्। दत्तमुष्णं प्रभोक्तुं च दग्धोसौ तेन चक्रभृत् ॥४॥
 तत्पायसं प्रकोपेन ततस्तेनैव चक्रिणा। क्षिप्त्वा तन्मस्तके शीघ्रं मारितः सूपकारकः ॥५॥
 मृत्वा विजयसेनोसौ भूत्वा क्षारसमुद्रके। ततो व्यन्तरदेवश्च ज्ञात्वा पूर्वप्रघट्टकम् ॥६॥
 कोपात्तापसरूपेण सुभौमस्यास्य चक्रिणः। नाना मृष्टफलान्युच्चैः समानीय प्रदत्तवान् ॥७॥
 तत्फलास्वादानात्तेन सम्प्रोक्तं चक्रवर्तिना। कुत्र सन्ति फलानीति महामृष्टानि तापस ॥८॥
 ततस्तेन प्रपंचेन नीत्वा तं फललम्पटम्। समुद्रे प्रकटीभूय प्रोक्तमित्थं च शत्रुणा ॥९॥
 रे रे दुष्ट ममप्राण-नाशकस्त्वं मदोद्धतः। क्व यासि त्वमिदानीं च हन्यतेऽत्र मया ध्रुवम् ॥१०॥

७६. सुभौम चक्रवर्ती की कथा

चारों प्रकार के देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं उन जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर आठवें चक्रवर्ती सुभौम की कथा लिखी जाती है ॥१॥

सुभौम ईर्ष्यावान् शहर के राजा कार्तवीर्य की रानी रेवती के पुत्र थे। चक्रवर्ती का एक विजयसेन नाम का रसोइया था। एक दिन चक्रवर्ती जब भोजन करने को बैठे तब रसोइये ने उन्हें गरम-गरम खीर परोस दी। उसके खाने से चक्रवर्ती का मुँह जल गया। इससे उन्हें रसोइये पर बड़ा गुस्सा आया। गुस्से से उन्होंने खीर रखे गरम बरतन को ही उसके सिर पर दे मारा। उससे उसका सारा सिर जल गया। इसकी घोर वेदना से मरकर वह लवणसमुद्र में व्यन्तर देव हुआ। कु-अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव की बात जानकर सुभौम चक्रवर्ती पर उसके गुस्से का पार न रहा। प्रतिहिंसा से उसका जी बे-चैन हो उठा। तब वह एक तापसी बनकर अच्छे-अच्छे सुन्दर फलों को अपने हाथ में लिए चक्रवर्ती के पास पहुँचा। फलों को उसने चक्रवर्ती को भेंट किया। चक्रवर्ती उन फलों को खाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस तापस से कहा-महाराज, ये फल तो बड़े ही मीठे हैं। आप ये फल कहाँ से लाये? और ये कहाँ मिलेंगे? तब उस व्यन्तर ने धोखा देकर चक्रवर्ती से कहा-समुद्र के बीच में एक छोटा सा टापू है। वहीं मेरा घर है। आप मुझ गरीब पर कृपा कर मेरे घर को पवित्र करें तो मैं आपको बहुत से ऐसे-ऐसे उत्तम और मीठे फल भेंट करूँगा। कारण वहाँ ऐसे फलों के बहुत बगीचे हैं। चक्रवर्ती लोभ में फँसकर व्यन्तर के फाँसे में आ गए और उसके साथ चल दिये। जब व्यन्तर उन्हें साथ लिए बीच समुद्र में पहुँचा तब अपने सच्चे स्वरूप में आ उसने बड़े गुस्से से चक्रवर्ती को कहा-पापी, जानता है कि मैं तुझे यहाँ क्यों लाया हूँ? यदि न जानता हो तो सुन-मैं तेरा जयसेन नाम का रसोइया था, तब तूने मुझे निर्दयता के साथ जलाकर मार डाला था। अब उसी का बदला लेने को मैं तुझे यहाँ लाया हूँ। बतला अब कहाँ जाएगा? जैसा किया उसका